

दलित चेतना के संदर्भ में प्रेमचंद के साहित्य का अनुशीलन

डॉ. राजेश कुमार ठाकुर

असिस्टेंट प्रोफेसर , हिन्दी

शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय केवलारी

(जिला - सिवनी, म. प्र.)

यूनिवर्सिटी --

राजा शंकर शाह विश्वविद्यालय

छिंदवाड़ा (म. प्र.)

सार

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था से जुड़ी हुई स्तरीकरण की प्रक्रिया ने समाज को उच्चता- निम्नता की श्रेणियों में विभाजित कर ब्राह्मणों को सर्वोच्च और शूद्रों को सबसे नीचा स्थान दिया। लम्बे युगों से शूद्रों / दलितों को शोषण, अन्याय तथा अमानवीय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। विभिन्न समाज सुधार आन्दोलनों एवं साहित्यकारों ने समाज में उपेक्षित जीवन व्यतीत कर रहे इस वर्ग की पीड़ा व दर्द को अपने लेखन में उतारना शुरू किया और वहीं से दलित साहित्य का जन्म हुआ। प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य भारतीय समाज में लिखे गये साहित्य में उपन्यास तथा आत्मकथाओं के माध्यम से दलित विमर्श का विश्लेषण करना है। उपन्यासकार प्रेमचन्द, यशपाल, मोहनदास नेमिशराय और आत्मकथा लेखक भगवान दास और ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि द्वारा रचित साहित्य का अध्ययन कर समाज में दलित-विमर्श और उनमें अपने अधिकारों के प्रति सामाजिक चेतना की जाग्रति का विश्लेषण किया गया है। निसन्देह ही दलित साहित्य ने दलितों में प्रतिक्रियात्मक व्यवहार व सामाजिक चेतना को विकसित कर अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने की प्रेरणा व जाग्रति हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मुख्य शब्द: दलित विमर्श, शोषण, अन्याय,

प्रस्तावना

जाति व्यवस्था का प्रकार्यात्मक महत्व भारतीय समाज में आज भी बना हुआ है। यदि यह व्यवस्था सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर रही होती तो सम्भवतः इसका अन्त हो गया होता परन्तु इसके अन्त की सम्भावना अभी दिखाई नहीं पड़ती। केवल इसके स्वरूपों और प्रकार्यों में अन्तर आ गया है। डॉ० अम्बेडकर को ऐसी अनुभूति थी कि भारतीय समाज में जाति की जड़ें इतनी गहराई

तक पहुँच गयी है कि उसे सरलता से दूर करना अथवा प्रभावहीन बनाना सम्भव नहीं है। उनकी सोच थी कि जाति के अवरोधों को तभी दूर किया जा सकता है जब भारतीय समाज में आर्थिक एवं सांस्कृतिक निर्बलता को जाति के आधार पर विश्लेषित न किया जाए।

जिस धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम् एवं सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'अतिथि देवो भवः' जैसे उच्च आदर्श व मूल्य परम्परा रही हो, वहाँ अस्पृश्यता जैसी हेय तथा अमानवीय कुप्रथाओं का कोई औचित्य नहीं है। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि भारत में वर्ण का आधार जन्म न होकर कर्म था। वाल्मीकि जन्म से शूद्र थे जो रामायण के रचियता हुए, वेद - रचियता महर्षि व्यास केवट कन्या के पुत्र थे, महात्मा विदुर नीति निपुण दासी पुत्र थे।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि मानव उच्चता को कोई धर्म इतने सुन्दर रूप से व्यक्त नहीं कर सकता जितना हिन्दू धर्म और किसी धर्म में मानव का इतना अधोपतन देखने को नहीं मिलता जितना हिन्दू धर्म में महात्मा गाँधी के अनुसार अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा कलंक है। मुंशी प्रेमचन्द ने 'गोदान' में लिखा है हमारा सारा धर्म रोटी-बेटी के सम्बन्धों तथा छुआछूत के नियमों तक सिमट कर रह गया है। इस एक आत्मतत्व को एक बूँद से सब उत्पन्न, को वामन को शूद्र को चुनौती देती है।

दलितों को अपने साहित्य में स्थान देने वाले प्रेमचन्द उच्च वर्ग के स्वार्थी और शड़यन्त्रों की पोल खोलते हुए लिखते हैं कि अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मन्दिर बनाये, आप दलबल के साथ जाएंगे, मन्दिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खाएंगे, दक्षिणा लेंगे इसमें कोई पाप नहीं लेकिन अछूत मन्दिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जाएंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाए।"''

हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में आज दलित चेतना उभर कर सामने आने लगी है। समकालीन दलित साहित्यकारों ने अपने-अपने लेखन में दलित समाज का यथार्थ चित्रण कर दलित चेतना को अवश्य उभारा है। दलित चेतना की दृष्टि विशुद्ध मानवता की है। स्वतन्त्रता, समता एवं बंधुता के मूल्यों को उसने बौद्ध धर्म से प्राप्त किया है। दलित साहित्य सामन्ती मूल्यों और सवर्णों के उत्पीड़न के खिलाफ दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य है। दलित साहित्य का मूल स्वर वेदना, विद्रोह, निशेध और उत्थान है। हिन्दी में दलित साहित्य का सब्जन आठवें और नौवें दशक से शुरू हुआ। ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ० सुखवीर सिंह, चन्द्रकांत बराठे, डॉ० दयानन्द

बटोही, डॉ० सुमन पाल आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

वाल्मीकि जी की कविताओं (सदियों का संताप और तब तुम क्या करोगे) में वर्ण व्यवस्था की क्रूरता से प्राप्त यातना का चित्रण पूरे तीखेपन के साथ हुआ है प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 'दूध का दाम', 'ठाकुर का कुँआ, सद्गति और कफन' जैसी कहानियाँ दलित चेतना का मार्मिक चित्रण करती हैं सन् 1904 ई० में दलित कहानियाँ नामक संकलन के प्रकाशन के बाद हिन्दी में दलित कहानियाँ लिखी जाने लगीं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ० प्रेमशंकर, जयप्रकाश कर्दम, दयानन्द बटोही, मोहन दास नैमिशराय जैसे सशक्त दलित लेखकों ने दलित कथा यात्रा को चरम सीमा तक पहुँचाया। दलित पीड़ा का सजीव चित्रण करती हुई रचनाओं के क्रम में शिवमूर्ति की तर्पण, ओमप्रकाश वाल्मीकि की जूठन, मोहन दास नैमिशराय की अपने-अपने पिंजरे, सूरजपाल की तिरस्कृत, बैसंत्री की दोहरा अभिशाप आदि महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त दलित साहित्य को समर्पित स्वतन्त्र पत्रिकाएं भी प्रकाशित हो रही हैं। इनमें 'आश्वस्त (उज्जैन), संघर्षरत आम आदमी (दिल्ली), हंस' (दिल्ली). 'उपेक्षा' (दिल्ली) आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य भारतीय समाज में लिखे गये साहित्य की विभिन्न विधाओं में दलितों एवं गैर दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य किस प्रकार से दलितों में सामाजिक चेतना को जाग्रत कर दलित विमर्श को जन्म दे रहा है, का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना है। प्रस्तुत पत्र में हिन्दी साहित्य की प्रमुख विधाओं उपन्यास और आत्मकथा के माध्यम से दलित विमर्श विश्लेषण का प्रयास किया गया है। 15वीं एवं 16वीं शताब्दी में (मध्यकालीन युग में) धार्मिक विचारों के क्षेत्र में आन्दोलन का विकास हुआ जिसमें हिन्दू धर्म एवं सामाजिक बुराइयों एवं कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई जाने लगी। भक्ति आन्दोलन के माध्यम से समाज में व्याप्त असमानता तथा भेदभाव को कम महत्व दिया जाने लगा था।

हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि एक साहित्यकार की सार्थकता और सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसने शोषित दलित और प्रताड़ित वर्ग के दुख, दर्द और संघर्षों को वाणी देने के लिए कितनी प्रतिबद्धता दिखाई और अपनी लेखनी से जनमानस को जगाने अथवा झकझोरने में किस सीमा तक सफल रही। यही उसके लेखन की सार्थकता और प्रासंगिकता भी है। दलित साहित्य दो भागों में बाँट कर समझा जा सकता है। प्रथम वह जो स्वयं

दलित है जिसने स्वयं सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक अन्याय और कूरता को सहा है, जिया है और उस पीड़ा की टीस ने साहित्य को जन्म दिया और दूसरा भाग वह है जो गैर दलित है जिसने बड़े निकट से दलितों के साथ हुए अन्याय व पीड़ा को देखा है और उनकी संवेदनाओं ने उन्हें उसकी अभिव्यक्ति के लिए लेखन को माध्यम बनाने के लिए बाध्य किया।

हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा उपन्यास में दलित विमर्श की अभिव्यक्ति और भूमिका अत्यन्त प्रभावी रही है। 20वीं सदी के तीसरे दशक के उपन्यासकारों ने दीन-दुखियों और दरिद्रों की दुनिया को तीव्र अभिव्यक्ति दी। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने उन व्यक्तियों की कथा को केन्द्र बनाया जो साहित्य और जीवन की परिधि से बाहर समझे जाते थे। निसन्देह ही उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने दलित विमर्श की परम्परा को अंकुरित किया। हिन्दी उपन्यास लेखन परम्परा में सर्वप्रथम गोदान में दलित वर्ग ब्राह्मणों के सामने सिर उठाकर खड़ा दिखाई देता है। हम आज या तो मातादीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे या उसका अपना रक्त एक कर देंगे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। मातादीन द्वारा उन्होंने जन्मगत श्रेष्ठता का तीव्र विरोध भी करवाया है- 'ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ, जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है। प्रेमचन्द के उपन्यास कर्मभूमि में दलित संघर्ष, पीड़ा एवं शोषण का प्रस्तुतीकरण हुआ है उपन्यास का नायक अमरकान्त अपना घर छोड़कर चमारों के गाँव में जीवन बिताता है। उसकी पत्नी सुखदा भी दलितों के लिए संघर्ष करती है- "अधिकारी मुझे गिरफ्तार कर लें। उन लाखों गरीबों को कहाँ ले जाएंगे जिनकी आहें आसमान तक पहुँच रही हैं। यही आहें एक दिन किसी ज्वालामुखी की भाँति फटकर सारे समाज के साथ सरकार को भी विध्वंस कर देंगी।" सुखदा तत्कालीन पददलित नारियों को सचेत और अहंकारी पतियों को चुनौती देती हुई कहती है- पुरुषों का यह अत्याचार बहुत दिनों तक न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पीएगी।"*

'जख्म हमारे उपन्यास दलित लेखक और चिन्तक मोहनदास नैमिशराय द्वारा रचित अति संवेदनशील कथाकृति होने के साथ-साथ समकालीन इतिहास का एक मार्मिक दस्तावेज भी है। यह उपन्यास दुख, वेदना, जातिगत हीनता, दलितों पर सवर्णों के अत्याचार साम्प्रदायिकता का दंश आदि समस्याओं से ओतप्रोत है।

उद्देश्य

जाति व्यवस्था का प्रकार्यात्मक महत्व भारतीय

हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में दलित चेतना

दलित साहित्य की अवधारणा

जहां तक दलित साहित्य की अवधारणा का सवाल है तो इस संबंध में आज भी दलित साहित्यकारों एवं गैरदलित साहित्यकारों में कशमकश जारी है। दरअसल, दलित साहित्यकार आज भी मानते हैं कि दलितों की पीड़ा का आख्यान दलित ही कर सकता है क्योंकि 'जाके पांव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई', लेकिन गैरदलित लेखकों का मानना है कि बिना बिवाई फटे भी उसके दुःख-दर्द और पीड़ा को महसूस किया जा सकता है और सहानुभूतिपूर्वक उसका वर्णन भी किया जा सकता है। यानी स्वानुभूति और सहानुभूति का द्वंद्व आज भी जारी है। मशहूर मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने लोकतंत्र की परिभाषा 'ऑफ द पीपुल' बाई द पीपुल एण्ड फॉर द पीपुल' की तर्ज पर स्वीकार किया है कि दलित साहित्य वह है जो दलितों द्वारा, दलितों के बारे में और दलितों के लिए लिखा गया है जो केवल अंबेडकरवाद से प्रभावित है, उसमें न गांधीवाद की मिलावट है और न ही मार्क्सवाद की। लेकिन दूसरे मार्क्सवादी आलोचक डॉ. मैनेजर पांडेय नामवर सिंह से कुछ भिन्न मत रखते हैं।

उनकी नजर में दलित साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो दलितों के द्वारा, दलितों के बारे में, दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैरदलित लेखकों का साहित्य। बकौल मैनेजर पांडेय करूणा और सहानुभूति के सहारे गैरदलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं, लेकिन सच्चा दलित साहित्य वहीं है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या सवर्ण समुदाय के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति और करूणा से नहीं, बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है। शायद इदसीलिए मशहूर दलित लेखक मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है, क्योंकि उन्होंने नारकीय उपेक्षापूर्ण जीवन जिया है, वह कल्पना की चीज नहीं है। दलित साहित्य में गुस्सा और नफरत अनुभूति प्रेरित है। उसे कला के छल की जरूरत नहीं है आज भी वर्चस्ववादी ताकतें हमें वंचितों की कोटि में रखना चाहती हैं। दलित साहित्य की पहचान है- चेतना का उगता हुआ सूरज। वहीं हमारी मुक्ति का संदेश होगा। दलित साहित्य जख्मी लोगों का दस्तावेज है। बकौल ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य उन लोगों की व्यथा का साहित्य है जिन्होंने अस्पृश्यता का दंश झेला है और झेल रहे हैं। वाल्मीकि के मुताबिक जो दलित बस्ती में चार दिन गुजार ले, वह वर्ण-व्यवस्था के माने समझ जाएगा। उसकी दृष्टि बदल जाएगी, उसके सारे मूल्य बदल जाएंगे। कुछ ऐसी ही बात

कँवल भारती भी करते हैं, क्योंकि वे भी मानते हैं कि दलित साहित्य उन अछूतों का साहित्य है जिन्हें गांव के बाहर हाशिर पर रखा गया है और उनकी जीवन-शैली के 'कोड' निर्धारित है कि उन्हें क्या-क्या नहीं करना है। बाबासाहेब अंबेडकर के दर्शन से नई दृष्टि प्राप्त कर लिखा जा रहा है दलित साहित्य जिसमें निषेध, नकार और विद्रोह की भावना भरी हुई है। बकौल ताराचंद खांडेकर दलित साहित्य अंधश्रद्धा, शब्दप्रामाण्य, ग्रंथ प्रामाण्य, आत्मा, ईश्वर और उस पर आधारित समस्त नैतिकता एवं धर्मसत्ता को अस्वीकार करता है।

हिन्दी दलित साहित्य की जड़ें मराठी में हैं या हिन्दी में हैं, इसको भी लेकर बहुत दिनों तक ऊहापोह बना रहा है। कँवल भारती जैसे लेखक तो उसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल से जोड़ते हैं और कहते हैं कि सिद्ध कवि सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि माना जाता है। इन्हें से हिंदी साहित्य का आदिकाल आरंभ होता है। लेकिन यह वास्तव में दलित साहित्य का आदिकाल है। इसके बाद धारा हिंदी में प्रवाहित हुई वह प्रतिक्रांति की धारा है। वर्ण-व्यवस्था के विरोध और सामाजिक परिवर्तन की जो क्रांति बुद्ध ने की थी, आदिकाल के सिद्ध कवि इसी क्रांति के वाहक थे। इनमें 37 सिद्ध शूद्र थे। कँवल भारती की बातों को यदि रामचन्द्र शुक्ल के कथन से मिलाकर देखें तो इसमें सत्यता नज़र आती है। शुक्लजी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है, "84 सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अतः जाति-पांति के खंडन तो वे आप ही थे" राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में जिन 84 सिद्धों की जीवनियां दी हैं, उनसे भी उनकी जातियों और पेशों का पता चलता है। उनमें 18 शूद्र, 1 मछुआ, 2 तँतवा, 1 धोबी, 1 लकड़हारा, 1 लोहार, 1 डोम, 1 चिड़ीमार, 1 कहार, 1 दर्जी, 1 चमार और 4 स्त्रियां शामिल हैं।

लेकिन इनके अलावा शेष अगड़ी जातियों के सिद्ध हैं जिनमें कुछ वर्ण-व्यवस्था के विरोधी हैं। बकौल कँवल भारती सरहपाद ब्राह्मण थे, पर वर्ण व्यवस्था के खिलाफ उन्होंने जबर्दस्त विद्रोह किया था। उन्होंने वर्ण के बाहर नीची जाति की शर (तीर) बनाने वाली कन्या से विवाह किया था। इसलिए वह सरह कहलाये। वर्ण-व्यवस्था का विनाश और समता की स्थापना ही दलित साहित्य का लक्ष्य है और आदिकाल के सिद्ध कवि इसी चेतना के संवाहक हैं। सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय की इसी प्राचीन धारा के समानांतर ब्राह्मण साहित्य की परंपरा अस्तित्व में आयी जिसकी मुख्य प्रवृत्तियां वर्ण-व्यवस्था के समर्थन की रहीं। यद्यपि आदिकाल में प्रतिक्रांति की धारा को गति नहीं मिली, क्योंकि इसके बाद कबीर आदि दलित संत कवियों का युग आया जिन्होंने वर्ण

व्यवस्था और अस्पृश्यता के खिलाफ अपने विद्रोह को और तेज किया, परंतु इसी युग में ब्राम्हणों द्वारा प्रतिक्रांति की धारा स्थापित करने के प्रयास आरंभ हो गये थे । इनमें रामानंद अग्रगण्य थे । रामानंद को लेकर भी साहित्येतिहास में एक तरह का भ्रम है कि वे जात-पांत में यकीन नहीं करते थे, जबकि यह सच नहीं है 'जात-पांत पूछे नहीं कोई हरि को भजै सो हरि का होई' का संबंध भक्ति भावना तक सीमित है लेकिन वर्णाश्रम व्यवस्था के मामले में नहीं । शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है, "भक्ति मार्ग में इनकी उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है- जैसा कि कुछ लोग समझा करते हैं कि रामानंद जी वर्णाश्रम के विरोधी थे । समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न-भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे ।

केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका समान अधिकार स्वीकार किया । " शायद यही कारण है कि दलित साहित्यकार रामानंद को कबीर और रैदास का गुरु मानने से इनकार करते हैं, क्योंकि जब दोनों के बीच कोई वैचारिक समता ही नहीं थी, तब गुरु-शिष्य संबंध कैसे स्थापित हो सकता था । दलित साहित्यकार यह मानते हैं कि कबीर और रैदास जैसे कवियों की जाति और वर्ण-व्यवस्था के विरोध की धारा के समानांतर तुलसी दास जैसे ब्राम्हण कवियों की काव्यधारा प्रतिष्ठित होती है जिसे प्रकारांतर से वर्ण-व्यवस्था के समर्थन और ब्राम्हणवाद के उत्थान की धारा भी कहा जा सकता है । शायद यही कारण है कि शिवकुमार मिश्र जैसे प्रगतिशील लेखकों को भी सगुणोपासक धारा का सामाजिक प्रदेय नहीं के बराबर दिखता है । क्योंकि रूढ़ सामाजिक व्यवस्था से टकराने का प्रयास कोई भी निचली जाति का कवि नहीं करता, यहीं पूरे सगुण धारा में एक भी निचली जाति का कवि नहीं है, क्योंकि राम और कृष्ण के दरबार में कोई अछूत प्रवेश भी कैसे कर सकता था ।

निष्कर्ष

कई लेखक सकारात्मक रूप से चित्रित नायक को दलित चेतना के सच्चे अवतार के रूप में परिभाषित करते हैं, जो उचित दलित चेतना है। हालांकि, यह सामग्री उन्मुख परिभाषा वास्तव में वास्तविकता के अनुरूप नहीं है। दलित कथा असफल नायकों, कठोर सामाजिक भेदभाव के निराशाजनक पीड़ितों और प्रगति की विफलता से भरी हुई है - जो इस तथ्य से परे कि दलित साहित्य वास्तव में क्या है, इसके लिए मानदंडों को परिभाषित करने की जटिलता को दर्शाता है, इस तथ्य से परे कि लेखक जन्म से दलित है ।

संदर्भ

ओमप्रकाश वाल्मीकि , "दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र" पृ. क्र. 142

डॉ. पूरणमल "दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय" पृ. क्र. 105

सेहन लाल सुमनाक्षर "दलित साहित्य" पृ. क्र. 90

हिन्दी दलित साहित्य: संपादक- यज्ञ प्रसाद तिवारी पृ. क्र. 18

हिन्दी समकालीन साहित्य मे दलित चेतना निबंध: डॉ. उमाशंकर तिवारी पृ. क्र. 54

धरती धन न अपना: जगदीशचन्द्र पृ. क्र. 19

सिंह, डा० सुधा रानी (2012). दलितों की वेदना ही दलित साहित्य की जननी पृष्ठ 42. पत्र प्रस्तुतीकरण. राष्ट्रीय संगोष्ठी - वर्तमान समाज और साहित्य में दलित विमर्श. 2012. वी०एम० एल०जी० कॉलेज: गाजियाबाद.

प्रेमचन्द (1936). गोदान हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय: बम्बई. पृष्ठ 208.

वही. पृष्ठ 28.

प्रेमचन्द (1987). 'कर्मभूमि'. भारतीय ग्रन्थ निकेतन: नई दिल्ली. पृष्ठ 224.

वही. पृष्ठ 187.

मोहनदास नैमिशराय. 'जखम हमारे भारतीय साहित्यास. <https://www.bhartiyasahityas.com/product/zakh-hamare>.

वाल्मीकि , ओमप्रकाश (1997) जूठन राजकिशोर प्रकाशन: दिल्ली. पृष्ठ 13.

नैमिशराय, मोहनदास. (2009). अपने - अपने पिंजरे वाणी प्रकाशन: दिल्ली. पृष्ठ 17. 9.

चौहान, सूरजपाल (2002). तिरस्कृत. वाणी प्रकाशन: नई दिल्ली. पृष्ठ 63.

सिंह, डॉ० श्यौराज (2022). 'बेचैन', 'साहित्यिक उत्सवों और दलित विमर्श के बीच अमर उजाला. 13 नवम्बर. नई दिल्ली.